|| श्रीहरिः ||

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 13: क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग

1/3 (श्लोक 1-10), शनिवार, 28 दिसंबर 2024

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/lyy_9ZUOtvk

आत्मज्ञानी के लक्षण

ईश्वर की प्रार्थना और मधुर भजन के साथ इस सत्र का प्रारम्भ हुआ। इस अध्याय का नाम है **क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग**। ज्ञानेश्वर महाराज ने जब इस अध्याय का चिन्तन ज्ञानेश्वरी में किया तो अपने गुरु के चरणों में नतमस्तक हो गए और अपने गुरु को एक रूपक के रूप में गणेश की उपमा दी और कह दिया कि ऐसे गणेश जी के चरणों के वन्दन के साथ मेरे जीवन में सरस्वती का प्रवेश होगा। सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं -

आत्मरूप गणेशु केलिया स्मरण ।
सकळ विद्यांचें अधिकरण ।
तेचि वंदूं श्रीचरण । श्रीगुरूंचे ॥

आत्मरूप गणेशजी का वन्दन करते हैं। जिस निराकार आत्मत्त्व को श्रीभगवान ने क्षेत्रज्ञ कह दियाहै, उसको वन्दन करते हैं और वही मेरे सद्गुरु हैं। वही मेरे सद्गुरु के चरण हैं। जो मेरा आत्मस्वरूप है वही मेरे सद्गुरु है। ये दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं हैं। ऐसा कहते हुए उनका स्मरण करते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं -

जयांचेनि आठवें । शब्दसृष्टि आंगवे ।
सारस्वत आघवें । जिव्हेसि ये ॥

वे कहते हैं कि वाणी में सरस्वती का प्रवेश तब होता है जब हम सद्गुरु के चरणों का स्मरण करते हैं। जब उनके चरणों में नतमस्तक होते हैं तो सारी सृष्टि अनुकूल हो जाती है। ये शब्द वाणी में आने लगते हैं और कठिन विषय भी सरल हो जाता है। गुरुदेव कहते हैं कि यह अध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जो इसका गहराई से चिन्तन करेगा वह गीता जी के हृदय तक पहुँच जाएगा। गीता जी का हृदय उसके लिए खुल जाएगा। यह अध्याय द्वादश अध्याय के बाद आता है। द्वादश अध्याय हमने प्रथम स्तर में पढ़ा। इस अध्याय का नाम है, भक्तियोग। भक्तियोग का प्रतिपादन करते हुए भगवान ने भक्त के जो लक्षण बताए वो सगुण परमात्मा की आराधना, मूर्ति पूजा करने वाले, मूर्ति में उस परमात्मा तत्त्व को देखने वाले उन भक्तों के लक्षण बताए हैं।

कैसे समझें कि भगवान का भक्त कौन है? क्या उसने तिलक धारण किया? उसने रुद्राक्ष की माला पहनी? उसने गेरुवे वस्त्र परिधान किए? ये बहिरङ्ग के लक्षण नहीं हैं। लक्षण हमने देखें हैं बारहवें अध्याय में-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च |
निर्ममो निरहङ्कार: समदु:खसुख: क्षमी ||

जो क्षमाशील है, जो अद्वेष्टा है, उसकी गहराई में तो हम नहीं जायेंगे। जो किसी से द्वेष नहीं करता, ये सारे अन्तरङ्गों के सद्‌गुणों के वर्णन या लक्षण हैं और उसी से हम भक्त को पहचान सकते हैं ऐसा भगवान कहते हैं।

भक्ति के भी चार प्रकार होते हैं। बारहवाँ अध्याय सगुण भक्ति के लक्षण बताने वाला है, जबकि अध्याय तेरह निर्गुण भक्ति के लक्षण बताने वाला है। यह भक्ति जिनके हृदय में उदित हो गयी, उन्हें हम कैसे पहचानें? सगुण, भाव प्रधान है। भक्ति का भाव, प्रेम है। निर्गुण, ज्ञान प्रधान है, बुद्धि तत्त्व। मन भावना प्रधान होता है। बुद्धि तर्क प्रधान है। जिनकी बुद्धि ज्ञान की अभिलाषी है, वो ज्ञान के मार्ग से उस निर्गुण निराकार की उपासना कैसे करते हैं? वहाँ तक कैसे पहुँचते हैं? उनके लक्षण हम कैसे समझें? वहाँ तक कौन पहुँच गया, यह बताने वाला और उस निर्गुण निराकार का वर्णन करने वाला यह अध्याय है। यह अध्याय इतना गहन है कि इसकी गहराई हम नाप नहीं सकते। जो सगुण की उपासना करने वाला भक्ति प्रधान है, उसमें भी ज्ञान अवतरित होता है और जो निर्गुण की उपासना करता है उसमें भी ज्ञान अवतरित होता है।

बारहवें अध्याय में हमने देखा है, चार प्रकार की उपासनाएं हैं-
1- सगुण साकार विग्रह की उपासना करने वाले।

2- सगुण निराकार की उपासना करने वाले।

3- निर्गुण साकार सत्व, रज और तम, इन तीनों गुणों के अतीत वो परमात्मा है, वो निर्गुण लेकिन साकार कृष्ण के रूप में है, ऐसी उपासना करने वाले होते हैं।

4- चतुर्थ, निर्गुण निराकार, सत्व, रज, तम तीनों गुणों के अतीत और आकार रहित, यह भी उपासना करने वाले होते हैं। भगवान किसी की भक्ति को नकारते नहीं हैं। भगवान यह नहीं कहते कि इसी प्रकार की उपासना करने वाला मुझ तक पहुँचेगा।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलन्ध्रुवम् ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।

निर्गुण निराकार अव्यक्त परमात्मा की उपासना करने वाले भी मुझ तक पहुँचते हैं। इसके आठ लक्षण भी बताए।

- अक्षर- जिसका क्षर नहीं होता।
- अनिर्देश्य- जिसको हम उँगली उठाकर नहीं बता सकते कि यह परमात्मा है। वह चराचर में है। जिस प्रकार वर्ल्ड वाइड वेब www होती हैं जिन्हें हम पकड़ते (catch) हैं अपने मोबाइल या लैपटॉप में। तब हमें वह प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार जो निर्गुण निराकार परमात्मा तत्त्व चराचर में है, वो हम मूर्ति में देखते हैं, उसकी आराधना करते हैं। तो हम मूर्ति के उपासक भी निर्गुण निराकार की उपासना करते हैं, मानते हैं। इसीलिए हमारे सन्त महात्मा कहते हैं। रामदास स्वामी जी कहते हैं-

सगुनी भजे लेश नाही भ्रमासोल

सगुण साकार की आराधना करनी है, परन्तु भ्रम निकाल देना है कि केवल यही सत्य है। वह निर्गुण निराकार सत्य मैं इस मूर्ति में देख रहा हूँ। अपनी उपासनाओं की सारी भ्रान्ति को दूर करते जाना। वो अक्षर है, अव्यक्त है, अनिर्देश्य है, कूटस्थ है,

सर्वत्रगम है, अचल है, अचिन्त्य है, ध्रुव है, ऐसे आठ लक्षण भगवान ने बताए। लेकिन सभी लोग सगुण साकार आराधक नहीं हो सकते, कुछ-कुछ लोग निर्गुण उपासना भी करते हैं। श्रीभगवान कहते हैं-

ते प्राप्नुवन्ति मामेव,

वो भी मेरे पास आते हैं। निर्गुण निराकार की आराधना करना कठिन है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्

जिनको अव्यक्त, अक्षर, निराकार की उपासना करना भा गया या जिनका चित्त उनमें रम गया उन्हें क्लेश अधिक होते हैं। लेकिन श्रीभगवान उन्हें नकारते नहीं हैं। उनका भी वर्णन इस अध्याय में करते हैं। हम सामान्य लोग हैं, सगुण आराधना करते हैं। हमने देखा है वहाँ तक हमारे जो सन्त महात्मा हैं, सगुण की आराधना करते हुए, विठ्ठल भगवान की मूर्ति की पूजा करते-करते उस विराट तक कैसे पहुँच गए। हमने सन्त जनाबाई का उदाहरण देखा। उनका अभङ्ग है-

देव खाते देव पीते ।

देवावरी मी निजतें ।।

देव देते देव घेते ।

देवासवें व्यवहारिते ॥

देव येथें देव तेथे ।

देवाविणें नाहीं रीतें ॥

जनी म्हणे विठाबाई ।

भरुनि उरलें अंतरबाहीं ॥

मैं जो खा रही हूँ, वह श्रीभगवान् ही हैं, जो पी रही हूँ, वह भी श्रीभगवान् ही हैं। जिस पर सो रही हूँ, जिसके साथ व्यवहार कर रही हूँ, वो भी श्रीभगवान् ही हैं। मेरे अन्दर- बाहर विठ्ठल भगवान् ही हैं, जो निराकार भी हैं, साकार भी हैं। वो बुद्धि की उस उच्चावस्था तक पहुँच गई। सगुण मूर्ति की उपासना करते-करते वहाँ तक पहुँच गई।

श्रीभगवान् हमारे लिए एक पृथक्करण कर देते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। भगवान कहते हैं, अर्जुन, युद्धभूमि में जो भी तुम्हारे आत्मीयजन, परिवारजन हैं, उन्हें तुम देहरूप में देख रहे हो। लेकिन उनमें एक आत्मतत्त्व है। ये दोनों का संयोग है। हमारी विडम्बना यह है कि हम जब इस भूमि में आते हैं, तब हमें देह बुद्धि दी जाती है कि तुम देह हो। देह कोई काली होगी, गोरी होगी, नाटी होगी, ऊँची होगी, यही हमारी पहचान हो जाती है। हमारी महत्वपूर्ण पहचान हमारे आत्मतत्त्व की, हमारे चैतन्यतत्त्व की जो हमारे भीतर सूक्ष्म रूप में है, इसकी पहचान कराने वाली भगवद्गीता, हमारी माता है।

13.1

इदं(म्) शरीरं(ङ्) कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते।

एतद्यो वेत्ति तं(म्) प्राहुः, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥13.1॥

श्रीभगवान् बोले - हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! 'यह' - रूप से कहे जाने वाले शरीर को 'क्षेत्र' - इस नाम से कहते हैं (और) इस क्षेत्र को जो जानता है, उसको ज्ञानी लोग 'क्षेत्रज्ञ' इस नाम से कहते हैं।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं- हे कौन्तेय! इस शरीर को क्षेत्र भी कहते हैं। क्षेत्र के तीन अर्थ हैं-

1- क्षेत्र अर्थात् खेत जिसमें फसल उगाते हैं।

2- दूसरा कार्य क्षेत्र

3- तीसरा धर्मशाला। धर्मशाला अर्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। धर्मशाला अर्थात् अस्थाई निवास। धर्मशाला में कोई कितने दिन तक निवास करता है?

इसी प्रकार क्षेत्र में भी हमारा निवास स्थाई नहीं है। इस क्षेत्र में रहने वाला कौन है? इस क्षेत्र में रहने वाला मैं हूँ। ये मेरा क्षेत्र कहने वाला कौन है, जो मेरी आँख कहती है, मेरी नाक कहती है, मेरे हाथ कहता है। मेरे अन्दर रहने वाला मैं, ये जानने वाले जीवात्मा को क्षेत्रज्ञ कहा गया, जिसके कारण जानने की प्रक्रिया होती है और ये जानने वाला चैतन्यतत्त्व भी क्षेत्र के माध्यम से ही जानता है। इसलिये शरीर अर्थात् क्षेत्र भी महत्वपूर्ण है।

यह शरीर भी एक अत्यन्त कठिन यन्त्र है। इसमें कितने सारे सिस्टम हैं।

Circulatory system,
respiratory system।

इन सारे सिस्टम से यह मशीन चलती है। इनके कारण यह चैतन्य है। यह इसका सूक्ष्म रूप है। जड़ और चैतन्य दोनों के संयोग के कारण कार्य चलता है।

विज्ञान में भी हम देखते हैं, E = mc2

आइंस्टाइन ने मैटर और एनर्जी का सम्बन्ध दे दिया हमारे लिए। विज्ञान पहले मैटर अर्थात् जड़ की बात करता है, फिर ऊर्जा की।

वेदान्त पहले हमारे अन्दर ऊर्जा की बात करता है,
बाद में जड़ की बात करता है।

जब चैतन्य के साथ जड़ का संयोग होता है, तब कार्य होता है। एक स्थूल है, एक सूक्ष्म है। एक जड़ है, एक चैतन्य है। इसको ही हम लोग शिव और शक्ति कहते हैं। शिव अर्थात् potential और शक्ति, जो इस पोटेंशियल से चेतना प्राप्त करते हुए कार्य करती है। इसी का दूसरा नाम प्रकृति और पुरुष भी है। प्रकृति कार्य करने वाली और पुरुष चैतन्य रूप में उसके अन्दर चेतना या पोटेंशियल निर्माण करने वाला। इन दोनों के संयोग से कार्य होता है। जड़- चेतन या स्थूल, सूक्ष्म या शिव और शक्ति या प्रकृति और पुरुष। इसी को श्रीभगवान् एक और नाम दे देते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ। क्षेत्र अर्थात् धर्मशाला और क्षेत्रज्ञ अर्थात् इसमें कार्य करने वाला। मात्र बिजलीघर तक आकर कार्य नहीं होगा। यदि हमें प्रकाश चाहिए तो बल्ब लगाना होगा। यदि हवा चाहिए तो पङ्खा चलाना पड़ेगा। गर्मी चाहिए तो हीटर, ठण्ड चाहिए तो ए सी चलना पड़ेगा। जड़ और चेतन के संयोग से कार्य होगा। मात्र बिजली कार्य नहीं करेगी।

इस शरीर में कुछ न कुछ बदलाव भी आता है। इसमें विकृति भी आती है। गुरुदेव ने समझाया है कि इस शरीर का जन्म होता

है, इसकी वृद्धि भी होती है, इसमें विकृति आती है, बीमारी भी आती है, यह नष्ट भी होता है। परन्तु क्षेत्रज्ञ में बदलाव नहीं होता।

13.2

क्षेत्रज्ञं(ञ्) चापि मां(म्) विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं(म्), यत्तज्ज्ञानं(म्) मतं(म्) मम॥13.2॥

हे भरतवंशोद्भव अर्जुन ! (तू) सम्पूर्ण क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही समझ और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही मेरे मत में ज्ञान है।

विवेचन - श्रीभगवान् कहते हैं-
हे भारत! तुम समराङ्गण में ये सब ज्ञान की बातें सुन रहे हो। इस सारे क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ '**भी**' मैं ही हूँ। यहाँ **भी** कहा है तो इसका अर्थ है, क्षेत्र भी मैं ही हूँ। क्षेत्र भी परमात्मा हैं और क्षेत्रज्ञ भी परमात्मा हैं। जो इस बात को जान लेता है, इसका पृथक्करण कर लेता है कि क्षेत्र भी परमात्मा हैं और क्षेत्रज्ञ भी परमात्मा हैं, वह ज्ञान तक पहुँच जाता है।

जैसे धर्मशाला में हमारा स्थाई निवास नहीं होता, वैसे ही इस शरीर में भी हमारा स्थाई निवास नहीं होता। इसे छोड़कर जाना पड़ता है। दूसरी बात यह है कि क्षेत्र रूपी इस खेत में अच्छी या बुरी फसल भी उगती है। कहीं बञ्जर धरती भी होगी। कहीं ऐसी घास-फूस भी उगेगी, जिसका कोई उपयोग नहीं होगा। पर कहीं अच्छी उर्वरक भी होगी, जिसमें अच्छी फसल उगेगी। अच्छी फसल के लिए किसान अच्छे बीज बोता है। उसी प्रकार इस क्षेत्र से यदि हमें अच्छा कार्य चाहिए तो अच्छे बीज हमें बोने होंगे।

What you sow so shall you reap.
हमने आम का बीज बोया है तो आम ही आयेंगे।

अच्छी फसल के लिए किसान घास- फूस को निकाल देता है। इसी प्रकार अच्छी फसल के लिए हमें भी अपने विकारों को दूर करना ही पड़ेगा।
ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

रुणुझुणु रुणुझुणु रे भ्रमरा ।
सांडीं तूं अवगुणु रे भ्रमरा ॥
चरणकमळदळू रे भ्रमरा ।
भोगीं तूं निश्चळु रे भ्रमरा ॥
सुमनसुगंधु रे भ्रमरा ।
परिमळु विद्गदु रे भ्रमरा ॥
सौभाग्यसुंदरू रे भ्रमरा ।
बाप रखुमादेविवरू रे भ्रमरा ॥

मेरे भ्रमर समान मन तुम कमल दल रस का सेवन करो।
तुम सारे अवगुण छोड़ दो।
भगवान के चरण दल का पराग ग्रहण करो।

कबीरदास जी ने कहा-
बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।

सारे सन्त अपने गुण अवगुणों के प्रति अत्यन्त सजग रहते हैं। तुकाराम महाराज कहते हैं, मैं दूसरों के गुण दोषों को क्यों देखूँ?

मुझमें भी वही दोष हैं। वह इनके प्रति सजग रहते हैं और इस क्षेत्र को शुद्ध करते जाते हैं। प्रकृति मूलतः विकारी नहीं है। परन्तु विकार आ जाने से यह अशुद्ध हो जाती है।

13.3

तत्क्षेत्रं(म्) यच्च यादृक्च, यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च, तत्समासेन मे शृणु॥13.3॥

वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारों वाला है और जिससे जो (पैदा हुआ है) तथा वह क्षेत्रज्ञ (भी) जो है और जिस प्रभाव वाला है, वह सब संक्षेप में मुझ से सुन।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं-
हे अर्जुन! इस क्षेत्र में जो विकार आते हैं उन्हें मैं संक्षेप में तुम्हें बताता हूँ। इस क्षेत्र में विकार कैसे आते हैं इसका वर्णन ऋषियों ने भी किया, ब्रह्मसूत्रों में भी आया, वेदों में भी आया।

13.4

ऋषिभिर्बहुधा गीतं(ञ्), छन्दोभिर्विविधैः(फ्) पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव, हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥13.4॥

यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का तत्त्व- ऋषियों के द्वारा बहुत विस्तार से कहा गया है (तथा) वेदों की ऋचाओं द्वारा बहुत प्रकार से विभागपूर्वक (कहा गया है) और युक्ति युक्त (एवं) निश्चित किये हुए ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी (कहा गया है)।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि इसका गायन ऋषियों ने भी किया है। हमारी संस्कृति कहती है कि हम ऋषियों की सन्तान हैं और हमारे ऋषियों की प्रज्ञा, वैश्विक प्रज्ञा के साथ एकाकार हो गई। एक होती है मेधा, एक होती है प्रज्ञा। मेधावी छात्र कहते हैं। लेकिन प्रज्ञा जिनकी आलोकित हो गई, वो ऋषि हमारी cosmic constitution अर्थात् हमारे विश्व का संविधान हैं। विश्व भी किन्हीं संविधान, नियमों से चलता है।

परमात्मा से आने वाली तरङ्गों को जिनकी बुद्धि ग्रहण कर पाई, उन्होंने इस भाषा को हमारे लिए छन्दों, ब्रह्मसूत्रों के माध्यम से decode किया। गीता, ब्रह्मसूत्र और उपनिषद प्रस्थान त्रयी कहलाये। ब्रह्मसूत्र में भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, स्थूल-सूक्ष्म, जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष का वर्णन आया। हम इसे कोई भी नाम दे लें। श्रीभगवान् कहते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा और जो उसके परे हैं वो परमात्मा। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परमात्मा का ही स्वरूप हैं और परमात्मा का जो प्रतिबिम्ब इस देह में आया, उसे चिदाभास कहते हैं।

चिदाभास अर्थात् चैतन्य का आभास।

जैसे मैग्नेट के कारण लोहे में चलन की शक्ति आती है उसी प्रकार परमात्म तत्त्व के कारण इस शरीर में चलन की शक्ति आती है। इस प्रकार सन्तों ने समाधि में इन तरङ्गों का साक्षात दर्शन किया और ग्रन्थों के माध्यम से हमारे लिए उपलब्ध किया। यह क्षेत्र छत्तीस प्रकार के गुणों से बना हुआ है। जैसे शुद्ध सोने में ताम्बा मिलाए बिना गहने नहीं बनते, उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य तत्त्व से कार्य नहीं होते। उसमें श्रीभगवान् को मिलावट डालनी पड़ती है। विकारों की मिलावट को जैसे-जैसे हम दूर करते जायेंगे, हम उस अविकारी से जुड़ते जाएंगे। परमात्मा अविकारी हैं और यह शरीर विकारों से ग्रस्त है।

13.5

महाभूतान्यहङ्कारो, बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं(ञ्) च, पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥13.5॥

मूल प्रकृति और समष्टि बुद्धि (महत्तत्त्व), समष्टि अहंकार, पाँच महाभूत और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय - (यह चौबीस तत्त्वों वाला क्षेत्र है)

विवेचन- इस क्षेत्र में छत्तीस तत्त्व हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश पञ्च महाभूत हैं। अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त और मन ये चार हैं। दस इन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। आँख, नाक कान, जिह्वा और त्वचा इनके पाँच विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। पाँच कर्मेंद्रियाँ दो हाथ, दो पैर, गुदा मूत्रद्वार और वाणी और इनके पाँच विषय। ये कुल बीस हो गए। पाँच शुद्ध तन्मात्रा हैं जिसमें मिलावट नहीं है। यह क्षेत्र कुल छत्तीस तत्त्वों से बना है।

13.6

इच्छा द्वेषः(स्) सुखं(न्) दुःखं(म्), सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं(म्) समासेन, सविकारमुदाहृतम्॥13.6॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (प्राणशक्ति) (और) धृति - इन विकारों सहित यह क्षेत्र संक्षेप से कहा गया है।

विवेचन- इन छत्तीस में इच्छा, दुःख, सुख,चेतना, धृति यह सारे विकार हैं। यदि इच्छा पूरी नहीं हुई तो उस व्यक्ति अथवा परिस्थिति के लिए द्वेष होता है। अनुकूलता हमें सुख देती है, प्रतिकूलता हमें दुःख देती है। चेतना और धृति अर्थात् धैर्य इन सबका विकारों की मिलावट श्रीभगवान अर्जुन को बताते हैं।

व्यापकता में विकार नहीं होता, जितने सङ्कुचित्त होते हैं, उतने विकार बढ़ते हैं। जो व्यापक चैतन्य तत्त्व है, उसमें विकार नहीं है। परन्तु यह चैतन्य तत्त्व हमारे शरीर में बन्दी हो गया, सङ्कुचित हो गया और स्वयं को देह ही मानने लगा। देह मानने के कारण इसमें विकार जुड़ गए। विकार के साथ जुड़ने के कारण यह जीवात्मा बन गया। हम देखते हैं, दूध में जब दही (विकार) मिलाया जाता है, तब वह दही बनता है। परन्तु एक क्षीर सागर है, एक बहुत बड़ा दूध का समुद्र है, उसमें हमने चम्मच भर दही मिलाया तो वह दही नहीं बनता। उसी प्रकार व्यापकता में विकार नहीं होता, सङ्कुचित में विकार पैदा होता है। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं-

माझें व्यापकपण आघवें, गवसलें तयाचेनि अनुभवें।
तरी न म्हणतां स्वभावें, व्यापकु जाहला ॥ 402 ॥

यह व्यापकता परमात्मा का स्वरूप है। उस व्यापक के साथ जिसने अपना अनुसन्धान कर लिया, वह स्वयं भी व्यापक होता जाता है। सङ्कुचितता जाती रहती है। देह बुद्धि के कारण सङ्कुचितता बढ़ती है, विकार बढ़ते हैं। जैसे धृतराष्ट्र ने कह दिया-

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥

मेरे और पाण्डु के पुत्र क्या कर रहे हैं? देह बुद्धि के कारण अपना और पराया का निर्माण होता है।

विनोबा जी का कहना है, बचपन से मनुष्य को देहबुद्धि देना बहुत बड़ी विडम्बना है। बचपन से ही आत्मबुद्धि को जाग्रत करना चाहिए। देहबुद्धि के कारण मनुष्य व्यापक नहीं होता। इसके कारण समाज में मानसिक तनाव (डिप्रेशन) बढ़ रहा है। यही सारी समस्याओं का मूल है। यह बड़ी विडम्बना है कि जिसने इस आत्मतत्त्व को पहचान लिया, उसे हम कैसे पहचानें? वह अपने मुख से नहीं कह सकता कि मैंने ब्रह्मज्ञान पाया। जो ब्रह्मज्ञानी है, श्रीभगवान् उसके लक्षण बताते हैं। जिस प्रकार हमें कोई खेत दिखाई देता है, उसमें बहुत सुन्दर फसल लहलहा रही है। हम समझ जाते हैं इसकी भूमि उर्वरा है। उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी के लक्षण प्रकट होते हैं।

13.7

अमानित्वमदम्भित्वम्, अहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं(म्) शौचं(म्), स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥13.7॥

अपने में श्रेष्ठता का भाव न होना, दिखावटीपन न होना, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरु की सेवा, बाहर-भीतर की शुद्धि, स्थिरता (और) मन का वश में होना।

विवेचन- यहाँ पर ब्रह्मज्ञानी के लक्षण श्रीभगवान् बताते हैं। उनमें श्रेष्ठता जताने का अभाव है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वे श्रेष्ठ नहीं हैं। वे श्रेष्ठ हैं, परन्तु जताते नहीं हैं। दूसरा दम्भाचरण नहीं है, पाखण्ड नहीं है, दिखावा नहीं है। वे अन्दर से कुछ और और बाहर से कुछ और नहीं हैं। वे अपने कुल का दर्प भी नहीं दिखाते हैं। वे किसी के साथ शारीरिक अथवा मानसिक, वाचिक हिंसा नहीं करते हैं। किसी को बुरा कहना, किसी को पीड़ा पहुँचाना भी हिंसा है। वे क्षमाशील हैं। वे अन्दर बाहर एक समान हैं। वे अपने सद्गुरु के चरणों में समर्पित हैं। शुचिता अर्थात् शुद्धता उनके जीवन का हिस्सा है। जैसे पानी स्वच्छ होता है, दूसरा शुद्ध होता है। तीसरा पवित्र गङ्गाजल होता है।

शौचम् अर्थात् पवित्रता।

उनका अंतःकरण लाभ-हानि, मान-अपमान में स्थिर है। जीवन के द्वन्द्वों में जो स्थिर रहते हैं और जिनका स्वयं पर काबू रहता है, ऐसे ज्ञानी के महत्वपूर्ण लक्षण श्रीभगवान् हमें बता रहे हैं। ज्ञान जब तक जीवन में अनुभूति तक नहीं पहुँचता तब तक वह ज्ञान नहीं है। युधिष्ठिर को जब पाठ पढ़ाया गया-

सत्यं वद, धर्मं चर।

बाकी सभी ने इस वाक्य को रट लिया। परन्तु उन्होंने कहा कि जब तक मेरी वाणी से पूरा सत्य नहीं निकलता, तब तक मैं कैसे कहूँ कि मैने पाठ स्मरण कर लिया!

गुरु के चरणों में कैसे समर्पित होना चाहिए? यह ज्ञानेश्वर महाराज बताते हैं। गुरु के पास जाते हुए ऐसी कोई भावना नहीं रखना कि मैने कोई ज्ञान प्राप्त किया है। इस प्रकार अपनी गागर को रिक्त कर देना। मेरे पास ज्ञान की कोई शक्ति नहीं है और पङ्ख भी नहीं है। जो अपने गुरु के चरणों में इस प्रकार समर्पित होते हैं, वे ज्ञान की उस अवस्था तक पहुँच सकते हैं। उन्हें संसार की बातों में रस नहीं रहता। शास्त्र की चर्चा कहीं चल रही हो, वे मूक ही रहते हैं। कोई चर्चा नहीं करते। अपना ज्ञान बखान करने की उन्हें आवश्यकता नहीं रहती।

सारे भूतमात्र के कल्याण में मेरा जीवन बीत जाए, ऐसा करने वाले ज्ञान की परमोच्च अवस्था में पहुँच गए। कभी ऐसा लगे कि मैने गीता जी के अठारह अध्याय कण्ठस्थ कर लिए, मैने जिज्ञासु परीक्षा इतने अङ्कों से उत्तीर्ण कर ली है, या मैने पाठक दी, पथिक दी, हमें ऐसा लगता है कि हम अपने परिजनों से ऊपर उठ गए हैं। श्रीभगवान् हमें ऊपर की उच्च अवस्था दिखा देते हैं कि हमें पता चलता है कि गीता जी की यात्रा में अभी और चलना है। नीचे मत देखो, ऊपर देखो, कहाँ तक हमें जाना है। उन ज्ञानियों के लक्षण, सिद्धों के लक्षण, गुणातीत के लक्षण इतने सर्वोपरि होते हैं कि हमें लगता है कि अभी हम वहाँ तक पहुँचे नहीं हैं।

श्रीभगवान् हमारी दृष्टि ऊपर रखते हैं। हमने अपनी दृष्टि नीचे रखी तो अहङ्कार आ जाएगा कि हम तो ऊपर उठ गए। ये लक्षण जब हम सुनते हैं तो लगता है कि अभी हममें विकार हैं। कभी-कभी दम्भ दिखा रहे हैं, किसी का बुरा सोच रहे हैं, अहिंसा, पवित्रता, सरलता नहीं आई है अभी। अभी गुरु के चरणों में पूरी तरह समर्पित नहीं हुए हैं। ये लक्षण हमारे सन्त और गुरुदेव के जीवन में देखने को मिलते हैं, इसलिये उनके मन का, जीवन का चिन्तन भी हमें विकारों से मुक्त करता है।

एक बार ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जी रेलवे स्टेशन पर घूमने आए। उनके सादे वस्त्र देखकर रेल से उतरने वाले यात्री ने सोचा यह

यहाँ कार्य करने वाला कोई कर्मचारी है। उसने उनसे अपना सामान उठाने को कहा। विद्यासागर जी इतने बड़े ज्ञानी थे परन्तु उन्होंने कुछ नहीं कहा और सामान लेकर चल दिए। जब वह यजमान के घर सामान लेकर पहुँचे तो यजमान ने बताया वह कौन हैं। इस पर वह यात्री अत्यन्त लज्जित हुए। इतनी सरलता उनके जीवन में थी।

13.8

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि, दुःखदोषानुदर्शनम्॥13.8॥

इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य का होना, अहंकार का भी न होना और जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था तथा व्याधियों में दुःखरूप दोषों को बार-बार देखना।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं- हे अर्जुन! जिनके मन में इन्द्रियों के प्रति वैराग्य होता है। राग अर्थात् आसक्ति और वैराग्य अर्थात् जिनकी आसक्ति चली गई। गुरुदेव ने इसको बड़े सरल अर्थ में समझाया है।

अनुचित से मन हटाओ और उचित में मन लगाओ।

धीरे- धीरे वैराग्य जीवन में अपने आप अवतरित होता जाएगा। जितना जितना हमारे अन्दर **मैं** आ जाएगा, उतने ही हम देह बुद्धि में चले गए, उतना ही जीवन विकारों में ग्रसित होगा। जितने हम चैतन्य के साथ जुड़ते जाएंगे, उतने हमारे विकार दूर होंगे और उतने मानसिक दुःखों से मुक्त होते जाएंगे। श्रीभगवान् ने जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि को दुःख की श्रेणी में रखा। जन्म के साथ दुःख जुड़े हैं और मृत्यु के साथ भी। जरा अर्थात् वृद्धत्व, व्याधि अर्थात् रोग, जो भी इस शरीर के कारण होते हैं, ये दुःखों के मूल कारण हैं। यह शरीर मैं हूँ, यह दुःख इस कारण हैं, जिसने यह जान लिया उसका आत्मतत्त्व निर्लेप हो गया।

विनोबा भावे जी ने बताया कि गैस का गुब्बारा ऊपर न जाए, इसके लिए उसमें वजन बाँध दिया जाता है। इसी प्रकार जो चैतन्यतत्त्व व्याप्त है, उसे इस शरीर ने बाँध लिया। इसलिये वह सङ्कुचित हो गया। चैतन्य व्यापक है, शरीर व्याप्त है। एक असीम है, एक सीमित है। सूक्ष्म जो है वह व्यापक है, स्थूल व्याप्त है।

जिस प्रकार शिवलिङ्ग पर भाङ्ग आदि कुछ भी चढ़ाओ, वह निर्लेप रहता है, उसी प्रकार आत्मलिङ्ग का निर्लेप हो गया।

जिस प्रकार दर्पण में कोई भी प्रतिबिम्ब आए, वह उससे लिप्त नहीं होता है। परन्तु हमारे मन में सारे दृश्य और सारे विकार जम जाते हैं।

13.9

असक्तिरनभिष्वङ्गः(फ्), पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं(ञ्) च समचित्तत्वम्, इष्टानिष्टोपपत्तिषु॥13.9॥

आसक्ति रहित होना, पुत्र, स्त्री, घर आदि में एकात्मता (घनिष्ठ सम्बन्ध) न होना और अनुकूलता-प्रतिकूलता की प्राप्ति में चित्त का नित्य सम रहना।

विवेचन- यह संसार परमात्मा का है। जिनके मन में यह भावना उदित हो गई, उनकी सारी आसक्ति नष्ट हो जाती है। मेरा पुत्र, पुत्री, पत्नी, घर यह सब मेरा नहीं है, यह सब परमात्मा का है जो इस सृष्टि का नियामक है। प्रिय-अप्रिय बातें प्राप्त होने पर भी उसका चित्त समत्व में रहता है। उन्हें Euphoria depression नहीं होता।

13.10

मयि चानन्ययोगेन, भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वम्, अरतिर्जनसंसदि॥13.10॥

मुझमें अनन्ययोग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति का होना, एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव होना और जन-समुदाय में प्रीति का न होना।

विवेचन- श्रीभगवान् उन ज्ञानियों के लक्षण बता रहे हैं, परमात्मा के लिए जिनके मन में अनन्य योगेन, अव्यभिचारिणी भक्ति आ गई। अव्यभिचारिणी भक्ति होती है, परमात्मा की भक्ति से परमात्मा को माँगना। श्रीभगवान् हमारे लिए साधन होते हैं। साध्य की और बातें होती हैं। मेरा कोई सङ्कट, दुःख, रोग दूर हो जाए, मेरा कार्य सिद्ध हो जाए, कुछ प्राप्त हो जाए, उसे ज्ञानेश्वर महाराज व्याभिचारिणी भक्ति कहते हैं। भक्ति परमात्मा की प्राप्ति के लिए करना, मुझे अन्य कुछ नहीं चाहिए, आप ही चाहिए, इस भावना से भक्ति करना, यह अव्यभिचारिणी भक्ति है। स्वामी विवेकानन्द जी का प्रसङ्ग है-

स्वामी जी के पिताजी बहुत बड़े दानी थे। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी। उनका घर भी गिरवी हो गया। उनकी मृत्यु उपरान्त स्वामी जी और उनकी माता, बहन का दैनिक अन्न जुटाना भी कठिन हो गया। स्वामी जी ने अपने गुरुजी से कहा कि वे माँ जगदम्बा से उनके परिवार के लिए अन्न, वस्त्र और घर की व्यवस्था कर दें, जिससे कि वे अपनी साधना में ध्यान लगा सकें। गुरुदेव ने उनसे कहा, वैसे तो तुम निर्गुण उपासक हो, पर आज मङ्गलवार है, तुम चले जाओ और माँ से माँग लो। स्वामी जी दक्षिणेश्वर में माँ के सम्मुख खड़े हो गए। माँ काली ने उन्हें साक्षात् दर्शन दे दिए। स्वामीजी उनसे कुछ नहीं माँग पाए। उन्होंने कहा, माँ मुझे भक्ति दो, मुझे वैराग्य दो, ज्ञान दो। जगदम्बा से लौकिक बातें क्या माँगना? फिर बाहर आ गए। गुरु जी ने तीन चार बार भेजा। उन्होंने फिर वही माँगा। भक्ति दो, वैराग्य दो। तब ठाकुर जी ने कहा, तुम नहीं माँग पाओगे। मैं ही माँगता हूँ तुम्हारे लिए। तब उन्होंने ही उनके अन्न, वस्त्र और घर की व्यवस्था की।

श्रीभगवान् कहते हैं, ऐसे एकान्त वास की जिसे इच्छा होने लगे, समझ लेना उसमें ज्ञान अवतरित होने लगा।

स्वामी रामदास कहते हैं कि एकान्त में रहना भी कठिन है। इसलिये जब साधना की अवस्था होती है तब लोकान्त में या सत्सङ्ग में रहना चाहिए। हमारी जैसी साधना में रहना चाहिए। गीता परिवार में रहना चाहिए। जो साधना की बाल्यावस्था में हैं, उनके लिए एकान्त अत्यन्त कठिन होता है। इसलिये स्वामी रामदास कहते हैं, कभी एकान्त में रहना, कभी लोकान्त में रहना। बीच-बीच में ज्ञान प्राप्ति के लिए एकान्त में रहना। जिसे यह ज्ञान प्राप्ति की छटपटाहट लगने लगे, वह एकान्त में रहने लगता है। विषयासक्त लोग, जो हमें इस साधना मार्ग से विषयों की ओर ले जाते हैं, उनसे स्वयं को दूर रखते हुए, एकान्त का सेवन करते हुए, ज्ञान की उस अवस्था तक पहुँच जाते हैं।

विचार-मन्थन (प्रश्नोत्तर)-

प्रश्नकर्ता- गौरी शंकर जी
प्रश्न - राग, वैराग्य तथा वीत राग के बारे में स्पष्ट नहीं हो रहा है, कृपया समझा दीजिए।
उत्तर - चौथे अध्याय में श्रीभगवान् ने स्पष्ट बताया है-

वीतरागभयक्रोधा मान्यता मामुपाश्रिताः।

राग,भय और क्रोध को नष्ट कर परमात्मा से अनन्य प्रेम ही भगवद्प्राप्ति का सहज मार्ग है। किसी भी वस्तु, परिस्थितियों से राग रखने से, यदि उसकी प्राप्ति में बाधा पहुँचती है तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध में उचित-अनुचित का विचार नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता- रश्मि जी
प्रश्न - लोकैषणा नहीं रखने को कहा जाता है तो जो कला के क्षेत्र में हैं उनमें चाह तो रहेगी कि मेरी कला की सराहना हो। उसका त्याग कैसे हो?
उत्तर - अपनी कला की प्रशंसा हो ये चाह होती है, उसे बुरा भी नहीं कहा गया है। परन्तु यदि हम लोकैषणा रखते हैं तो हम दूसरों की प्रतिक्रिया पर आश्रित हो जाते हैं। उनकी प्रशंसा या आलोचना हमें प्रभावित करती है। उससे हमारे अन्दर आसक्ति

उत्पन्न होती है। इसलिये लोकैषणा को त्याग कर श्रीभगवान् में ध्यान केन्द्रित करने को श्रेयस्कर माना गया है।

।। ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु।।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!

हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !

संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!

Let’s come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||

||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||